समकालीन हिंदी कविता में आदिवासी विमर्श

डॉ. विभा कुमारी
एसोसिएट प्रोफेसर (हिंदी विभाग)
कल्याणी विश्वविद्यालय
कल्याणी, नदिया, पश्चिम बंगाल, भारत

सारांश

आज का भारतीय आदिवासी समाज दरअसल एक शोषित समाज है। इन आदिवासियों का शोषण विदेशियों ने तो किया ही, उनके अपने देश के लोगों ने भी उनका शोषण करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। इन विदेशी और आंतरिक उपनिवेशवादियों ने उनसे उनका जल-जंगल और जमीन यानी उनका सब कुछ हड़प लिया। जिससे यहां के मूल निवासी बेचारे आदिवासी अपने ही क्षेत्र में असहाय और अल्पसंख्यक हो गये। इसलिए आदिवासियों में इन बहिरागतों के प्रति भी रोष उत्पन्न हुआ, जो भारतवासी थे और भारत के अन्य क्षेत्रों से उनके संसाधनों पर अधिकार प्राप्त करने के लिए आये थे। आदिवासियों का यही आक्रोश आंदोलन बनकर फूट पड़ा। आदिवासी अब पुराने जमाने की तरह तीर-कमान से ही नहीं लड़ता, बल्कि वह बखूबी कलम का इस्तेमाल करना भी सीख गया है। इसलिए आज वह अपना आक्रोश कविताओं के माध्यम से व्यक्त कर रहा है।

मुख्य शब्द

आदिवासी, गिरिजन, संवैधानिक, मूलवासी, जनजाति, अस्मिता, बेदखल, खेतीहर मजदूर, बंधुआ मजदूर, विस्थापन, सरना, जाहेरथान, बोंगा, नक्सलवादी।

प्रस्तावना

वर्तमान में आदिवासी (Tribe) शब्द के समानान्तर कई शब्दों का प्रयोग मिलता है। यथा-गिरिजन, वनवासी, प्राचीन, निवासी, अनुसूचित जनजाति, मूलवासी, देशी और आदिम। इनमें से अधिकांशतः किसी न किसी रूप में सीमित एवं एकांगी अर्थ को ध्वनित करते हैं। 'गिरिजन' से पर्वत की कंदराओं में रहने का अर्थ स्पष्ट होता है, तो 'वनवासी' जंगल या वन में निवास करनेवाले को कहते हैं। 'प्राचीन निवासी' का अर्थ है वह प्रजाति, जो किसी देश, क्षेत्र में प्राचीन समय से निवास करती रही है, किन्तु इसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसका आरंभिक निवास-स्थान वही क्षेत्र रहा है। अनुसूचित जनजाति' मूलतः संवैधानिक शब्द है, जबकि आदिवासी समुदाय में जाति की अवधारणा नहीं है। साथ ही, इनमें कई ऐसे आदिवासी शामिल हो गये हैं, जो वास्तविक रूप में आदिवासी नहीं है। दूसरी तरफ आदिवासियों के कुछ ऐसे भी समूह सामने आये हैं, जो कि संविधान में शामिल नहीं हैं जैसे-'चकमा'। भौगोलिक दृष्टि से आस्ट्रेलिया महाद्वीप के मूलवासियों को आदिम और शेष दुनिया के मूलवासियों को इंडिजीनस अर्थात मूलवासी कहा जाता है। 'आदिम' शब्द में मौलिकता जैसे सांस्कृतिक-मनोवैज्ञानिक तत्व और 'मूलवासी' में भू-भाग विशेष में जीवन जीते रहने का भाव संकेतित होता है।

अध्ययन का उद्देश्य

इस लेख को पढ़कर समकालीन हिंदी कविता में व्यक्त आदिवासियों के जीवन और उनके जीवन-संघर्ष से परिचित हो सकेंगे। आदिवासी सदियों से अपनी सांस्कृतिक विरासत को सुरक्षित रखने में सफल रहे हैं। लेकिन वर्तमान शासन की संवेदनहीनता के कारण आज अपनी पहचान खोते जा रहे हैं। इस लेख के माध्यम से आदिवासियों की अस्मिता संकट से उपजे पीड़ा को विभिन्न कोणों से समझने में सहायता मिलेगी।

विषय-विस्तार

"आदिवासी समुदाय आदिम और मूलवासी समाज का वह हिस्सा है, जो अब भी मुख्य समाज से अलग-थलग प्रमुख रूप से प्रकृति पर आधारित जीवन जीता आ रहा है और प्राचीनता और नैसर्गिकता के संदर्भ में आदिम सरोकारों का कमोबेश संरक्षण किये हुए हैं।"[1] आदिवासी शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए श्यामचरण दुबे लिखते हैं--"जनजातियों की जड़ें इस देश में बहुत गहरी और पुरानी है। वे इस भू-भाग के सर्वप्रथम निवासी भले न हो वे निश्चित रूप से यहां के पुरातन निवासियों में हैं। वे वनों और पर्वतों के अपेक्षाकृत एकांत में रहते हैं। उनका परिवेश अगम्य भले ही रहा हो, किन्तु उसकी दूरी ने सांस्कृतिक प्रभावों पर स्वाभाविक नियंत्रण रखा है। जनजातियों का इतिहास-बोध सीमित और उथला है।... वह कुछ समय बाद जातीय मिथकों से जुड़ जाता है। अपनी सांस्कृतिक समग्रता, भाषाओं, संस्थाओं, विश्वासों और प्रथाओं के आधार पर समाज के शेष भागों में वे अलग दिखाई पड़ते हैं। जनजातियाँ समतावादी भले ही न हों, किन्तु उनमें आंतरिक स्तरण और विशेषीकरण बहुत कम होता है।"[2] इस प्रकार भारतीय समाज में ही नहीं, विश्व समुदाय में आदिवासी का ऐसा मानव समाज है, जो विकास की प्रक्रिया से दूर आज भी अपनी पुरानी जिंदगी के ढर्रे में सिमटा हुआ है। अपनी अस्मिता और शेष समाज से अलग रहने के कारण आदिवासी समाज मुख्यधारा के चरित्रों के अंदर आ रहे दुर्गुणों से मुक्त रहा है, लेकिन इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि विकास की प्रक्रिया से दूर रहने के कारण वह शेष समाज से अलग-थलग पड़ता गया तथा एक समय ऐसा आया,जब उनकी अस्मिता ही ख़तरे में पड़ गई। इस समय की भयावहता के संबंध में विनोदकुमार शुक्ल लिखते हैं--"जो प्रकृति के सबसे निकट है/जंगल उनका है/आदिवासी जंगल में सबसे निकट हैं/इसलिए जंगल उन्हीं का है/अब उनके बेदखल होने का समय है/यह वही समय है/ जब आकाश में पहले/एक तारा बेदखल होगा/एक पेड़ से/ पक्षी बेदखल होगा/आकाश से चांदनी/बेदखल होगें/XXX/जब जंगल में आदिवासी/बेदखल होंगे।"[3]

दरअसल, आदिवासियों की अस्मिता का प्रश्न जहाँ उनके नाम की परिभाषा से गहरा संबंध रखता है, वहीं वह उनकी सामाजिक संरचना और जीवनयापन के साधन जल, जंगल, जमीन से भी जुड़ा है। उसका उद्गम उसकी पहचान को पुष्ट करता है तो उसकी विरासत, भाषा, शिक्षा, संस्कृति और जीवन-शैली पहचान को जिंदा रखती है।इनकी रक्षा किये बिना उसकी अस्मिता की रक्षा नहीं हो सकती और इस सबके लिए जरूरी है-नेहरू के शब्दों में अपनी संस्कृति का उन पर न थोपा जाना-"हम अपने ढंग से जिएं, इसका स्वागत है, लेकिन दूसरों पर क्यों थोपें? मैं बिल्कुल आश्वस्त नहीं हूँ कि जीने का कौन-सा रास्ता बेहतर है, जनजातियों का या हमारा अपना? कुछ मायनों में मैं निश्चिंत हूँ कि उनका रास्ता (हमसे) बेहतर है, इसलिए यह हमारी ओर से घोर अशिष्टता होगी कि हम उनके विरूद्ध श्रेष्ठता का भाव प्रदर्शित करें, उन्हें कहें कि उन्हें कैसा आचरण करना चाहिए या उन्हें क्या करना चाहिए। हमें उन्हें अपनी दूसरे दर्जे की नकल बनाने की कोशिश करने में कोई तुक नजर नहीं आती।"[4]

दलितों और आदिवासियों की स्थिति में एक बड़ा अंतर यही है कि दलितों को गांव के बाहर भारतीय संस्कृति से बहिष्कृत करने के बाद भी उसके अधीन रहकर उसे मानने पर मजबूर किया गया और जीने की मानवीय शर्तों से वंचित रखा गया। उससे आत्मसम्मान छीन लिया गया। इसके विपरीत आदिवासियों को सभ्यता से ही बहिष्कृत कर जंगलों ठेल दिया गया। उसके पास जंगल, जमीन दोनों थे। उसने अपनी संस्कृति की विरासत हमेशा कायम रखी और आत्मसम्मान के साथ जीता रहा लेकिन अब उनकी सांस्कृतिक और सामाजिक संरचना तथा स्वायत्तता पर भी खतरा पैदा हो गया है। उसका स्वावलंबी स्वभाव और आत्मसम्मान डगमगाने लगा है और वह भी हीनताबोध का शिकार हो गया है।

आदिवासियों के पास जंगल और जमीन न हो, तो उसकी पहचान ही खत्म हो जाती है। अंग्रेजों ने यही किया और आजादी के बाद हमारी सरकार ने भी यही नीति रखी। अंग्रेजों ने अपनी राजस्व की नीति में स्थायी बन्दोबस्त की व्यवस्था थोपकर जमीन के अधिकार जमींदार के हाथों में दे दिए और आदिवासी, जो सामूहिक रूप से पूरे गांव के मालिक हुआ करते थे, उनके रैयत बन गये। कालांतर में उनकी ज़मीन जमींदारों, सूदखोरों व ग़ैर-आदिवासियों ने धोखे से हस्तांतरित करा ली और वे भूमिहीन खेतिहर मजदूर बनकर रह गये या बंधुआ मजदूर बन गये। हजारीलाल मीणा 'राही' लिखते हैं-"बारह करोड़ बाल मजदूरों का समूह/पूछ रहा है सवाल/देव भूमि में पैदा होना/क्या उनका दोष है?"[5] हरि राम मीणा के अनुसार--"मैं होने लगा अदृश्य/अपने ही कैनवास से उभरने लगा/एक काला-कलूटा बदशक्ल भद्दा/अपढ़ उज्जड्ड जंगली नंगा इंसान/जिसका सारा बदन लहूलुहान/चेहरे और छाती पर उभरे थे/जंगली सुअर के दाँतों के निशान/जांध और पिंडलियों पर आई हुई थीं/नारियल के खुरदरे तनों की खरोंचें/समुद्र से भी खारा जिसका लहू/जिंदा है हूबहू आदिकाल से/चूँकि उसके शरीर में थी गजब की ताकत/और अस्तित्व को बचाये रखने का/अनाप-शनाप जीवट!"[6] आजादी के 74 वर्षों बाद भी आदिवासियों की स्थिति ज्यों की त्यों है। लक्ष्मण सिंह कावड़े लिखते हैं--"सदियाँ बीत गई/विकास के नाम पर/आदिवासी/उपेक्षित जीवन जी रहे/बीहड़ 'अबुझमाड़' के जंगलों में/भूखे और नंगे आज भी।"[7]

समकालीन हिंदी कविता आदिवासी समाज में आ रहे इन बदलावों को सूक्ष्म एवं यथार्थ धरातल पर चित्रित करती है। आजादी के बाद हमने पश्चिमी सभ्यता की तर्ज पर विकास का केंद्रीकृत नेहरूवादी मॉडल अपनाया, जिसमें कुछ ख़ास जगहों को तवज्जों देकर बाकी अधिकांश जगहों के प्रति उपेक्षा का रवैया अपनाया। आदिवासियों की सुदूर एवं दुर्गम बस्तियों की ओर तो आज भी आधुनिकता का प्रकाश नहीं पहुँच पा रहा है। यदि पहुँच भी गया तो महज प्रचुर खनिज-संसाधनों के लोभ में उनके अस्तित्त्व को रौंदने व कुचलने के लिए। यह सारा कुचक्र वर्षों से उन्हें सभ्य एवं मुख्यधारा में शामिल करने के नाम पर हो रहा है। आदिवासियों के ख़िलाफ हो रहे इस सारे षड्यंत्र को समकालीन कविता अपना विषय ही नहीं बनाती, बल्कि उनके खिलाफ प्रतिपक्ष की ज़मीन भी तैयार करती है---"ओ रे/मानवता के आदिम नुमाइंदो,/तुम जंगली ढ़ोर, गंवार हो/एक सलाह है तुम्हें सभ्य बनाने की/'पुश्तैनी ऊबड़-खाबड़ धरा से हटाकर/रोपना होगा/मुख्यधारा की उर्वरा भूमि पर'/X X X X/ और वहाँ/तुमसे छूटी पुश्तैनी भौम पर/कँटीले तारों की पहरेदारी में नारियल के बागान/लहलहाते चावल के खेत/इमारती लकड़ी की मंडिया, कागज की मिलें/और आलीशन कोठियाँ/कोठियों में बहुत कुछ...जिसे तुम नहीं जान सकते/तय तुम्हें करना है--वही अड़े रहोगे या सभ्य बनोगे?"[8]

ठेकेदार, सत्ता एवं औद्योगिक तंत्र का मजबूत गठजोड़ आदिवासी को अपनी ही जड़ों से बेदखल कर उन्हें विस्थापन के लिए मजबूर करता है। आज आदिवासी अपनी ही जमीन से विस्थापित होकर शहरी मजदूर बनने की अभिशप्त नियति से जुड़ने को मजबूर हैं, इससे इंकार नहीं किया जा सकता। वस्तुतः लोक-कल्याणकारी राज्य ने विकास के जो मानक बनाये हैं, वे आदिवासियों के हितों के अनुकूल नहीं हैं। एक ओर राज्य अपनी जिम्मेदारी आदिवासी के प्रति लेने से कतरा रहा है, वहीं दूसरी ओर प्राकृतिक संसाधनों पर बहुराष्ट्रीय कंपनियों के प्रति राष्ट्र एवं राज्य की सरकारें सहयोगपरक रवैया अपना रही है। अरावली उद्घोष पत्रिका के 'आदिवासी कविता अंक' में संकलित डॉ. सुरेन्द्रकुमार नायक की कविता 'उलीहातू' इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है--"अपने ही बीच/कुकुरमुत्ते से उग आये/दलालों के दमन-चक्र/विकास का बहाना/हीराकुंड से लेकर/सिंगुर, नन्दीग्राम, भिलाई तक/हमारी ज़मीन, हमारे जंगल/हड़पते/हमारे, तथाकथित रक्षक।"[9] आज स्थिति का वर्णन करते हुए महादेव टोप्पो अपनी कविता 'सबसे बड़ा ख़तरा' में लिखते हैं--"अपने ही घरों में/अपने ही/जंगलों पहाड़ों के साम्राज्य में/शेर थे कभी हम/अब मेमने हुए जा रहे हैं/ शेर से मेमने होने की प्रक्रिया में/सिर्फ अपने खेत खलिहान मकान/ही नहीं खोये हैं हमने/खोयी है सैकड़ों वर्षों से अर्जित-/पुरखों के गाढ़े पसीने की कमाई/अपनी भाषा, संस्कृति और इतिहास/X X X X/ और मित्र! इस जंगल के लिए/यही है सबसे बड़ा खतरा/ कि हम अपनी पहचान खो रहे हैं।"[10]

अर्थ-लाभ का संकीर्ण लक्ष्य ही वन-शोषण तथा बड़े पैमाने पर जंगलों के उजाड़े जाने का मूल कारण है। निर्मला पुतुल लिखती है-"तुम्हारे पसीने से पुष्ट हुए दाने एक दिन लौटते है/तुम्हारा मुँह चिढ़ाते तुम्हारी ही बस्ती की दुकानों पर/कैसा लगता है तुम्हें जब/तुम्हारी ही चीजें/तुम्हारी पहुँच से दूर होती दिखती हैं?"[11]

वास्तव में, जहाँ-जहाँ आदिवासी हैं, वहाँ भरपूर प्राकृतिक संसाधन मौजूद है। यूरेनियम हो या कोयला, माइका हो या लोहा, तांबा हो या मैंगनीज-ये सब खासकर आदिवासी प्रधान राज्यों में ही पाये जाते हैं। चूँकि ये पहाड़ी या पठारी इलाके हैं इसलिए वहाँ नदियाँ ही नहीं, 'नद' भी बहते हैं। पूर्वोत्तर में अगर ब्रह्मपुत्र है तो झाड़खंड में दामोदर है। सरकार ने विकास के नाम पर बड़े-बड़े बांध बनाये जिससे लाखों लोग विस्थापित हुए। हमारे देश की विकास नीति का लक्ष्य होना चाहिए था--विकास में सबको समान अधिकार की प्राप्ति। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। विकास तो हुआ, पर कुछ चुनिंदा लोगों का असंख्य लोगों की कीमत पर, खासकर आदिवासियों की कीमत पर। राष्ट्र-हित के नाम पर आदिवासी लोगों की जमीन को अधिग्रहित कर उन्हें विस्थापित ही नहीं किया गया, बल्कि उसके संदर्भ में संविधान में प्राप्त मूल अधिकारों का भी उल्लंघन किया गया। इन विकास परियोजनाओं से इन आदिवासी प्रदेशों अथवा क्षेत्रों का आर्थिक संतुलन भी बिगड़ गया। इतना ही नहीं, सरकार 1998 में कई प्रकार के बिल ले आई। भूमि अधिग्रहण संशोधन विधेयक तो बहुराष्ट्रीय कंपनियों को जल्दी से जल्दी मनमानी जमीन दिए जाने हेतु ही लाया गया। अर्थात् विस्थापन की प्रक्रिया देश में तेज कर दी गई, जिससे सस्ते मजदूरों की एक बड़ी जमात पूँजीपतियों को उपलब्ध हो सके। हरि राम मीणा 'कैसे करोगे साबित' कविता में अपने भाइयों से पूछते हैं-"सभ्यता के नाम पर/आखिर कर ही दिये जाओगे बेदखल/हजारों सालों की तुम्हारी पुश्तैनी 'भौम' से/ कोई और होंगे अब कानूनी हकदार/नारियल के इन दरख्तों के/X X X X/ नारियल के इन दरख्तों से/ थे कोई आदि संबंध तुम्हारे/और हाँ यह भी तो नहीं/कि पुश्तैनी थी यह जमीं/चूंकि-तुम्हारे पास कोई पट्टा/कोई खातेदारी/कोई वसीयत/कोई बख्शीश नहीं है/ना ही है कोई दस्तावेजी सबूत/चश्मदीद गवाह भी तो नहीं है/बस अपने सिवा/तुम्हारी गवाही/कैसे होगी क़ाबिले एतबार?/फिर कैसे करोगे साबित/सभ्यता की इस अदालत में/कि यह 'भौम' तुम्हारी थी?"[12]

पहले भूमि अधिग्रहण व छोटानागपुर टेनेंसी एक्ट जैसे कानूनों के तहत आदिवासियों की ज़मीन लेने पर रोक थी। इसके प्रावधानों से मुक्ति पाने के लिए सरकार ने मनमाने ढंग से संशोधन किये। सरकार की इस नीति के कारण 1991 और 1995 की अवधि के बीच केवल झाड़खंड में पचास हजार एकड़ भूमि से पंद्रह लाख लोग विस्थापित हुए, जिसमें 41.27 प्रतिशत आदिवासी थे। रक्षा परियोजना में विस्थापित हुए आदिवासियों की संख्या 87.7 प्रतिशत है। जल संसाधन परियोजना में विस्थापित की संख्या 75.2 प्रतिशत है।

देश में आदिवासियों की मुख्य समस्या हमेशा से विस्थापन रही है। वे पहले भी खदेड़े जाते थे और आज भी खदेड़े जाते हैं। केवल तरीका बदल गया है। पहले वे एक जंगल से दूसरे जंगल जाते थे, लेकिन आज या तो जंगल कट गये हैं या उनमें प्रवेश पर रोक लग गई है और वे जंगल की उपज के अधिकारों से वंचित कर दिये गये हैं। अब वे शहरों की तरफ भागे चले आ रहे हें। हरि राम मीणा 'बेदखल होते हुए' कविता में लिखते हैं--"ऐसा लगता है/जैसे हमारे परिचित से शांत जंगलों में/घुस रहे हैं/दूर दिशाओं के तेज अंधड़/समुद्रों से उठ रही आग की लपटें/पृथ्वी की सारी सभ्यता/एक भीमकाय रोड रॉलर की मानिंद/लुढ़कती जा रही है हमारी जानिब/और हम बदहवास भाग रहे हैं/ खोह और गुफाओं की ओर/खोज रहे हैं किसी चट्टान का आसरा/धंस रहे हैं/घने पेड़ों और झुरमुटों में/लहूलुहान और भौंचक्के/बेदखल होते हुए/हमारी अपनी पुश्तैनी जमीनों से।"[13]

युगों से इन आदिवासियों ने अपनी जीवन-शैली, भाषा, रीति-रिवाजों एवं सांस्कृतिक परंपरा को कायम रखा है। प्रकृति उनकी सहचरी रही है। उनके पूर्वज ही उनके आराध्य है, जिन्हें वे बोंगा कहते हैं। उनके बोंगा के लिए किसी मंदिर, मस्जिद की स्थापना नहीं की जाती बल्कि वह तो वृक्षों और चट्टानों में रहते हैं। सात सखुओं के वृक्ष इन आदिवासियों के पूजनीय सरना कहलाते हैं। इसी प्रकार अपने पूर्वजों की स्मृति में गाड़ी गई अथवा पहले से मौजूद अगल-बगल की बड़ी शिलाएँ आदिवासियों का जाहेरथान या ससान कहलाते हैं। उनकी धार्मिक आस्था अंधी आस्था नहीं, बल्कि उनकी सामूहिक जीवन शैली है। यही गणतांत्रिक और सांस्कृतिक परंपरा से युक्त समानता और स्वतंत्रता पर आधारित जीवन-शैली इन आदिवासियों की विरासत या पहचान है। परंतु शासकीय तथा प्रशासकीय नीतियों तथा देशी-विदेशी घुसपैठियों के कारण इन आदिवासियों की पहचान देश के कई इलाकों में या तो समाप्त हो चुकी है या समाप्त होने के कगार पर है। कवयित्री निर्मला पुतुल अपनी 'संथाल परगना' शीर्षक कविता में पहचान के इस संकट पर प्रकाश डालते हुए लिखती हैं--"संथाल परगना/अब नहीं रह गया संथाल परगना!/बहुत कम बचे रह गये हैं/अपनी भाषा और वेशभूषा में यहाँ के लोग/बाज़ार की तरफ भागते/सब कुछ गड्डमड्ड हो गया है इन दिनों यहाँ/उखड़ गये हैं बड़े-बड़े पुराने पेड़/और कंक्रीट के पसरते जंगल में/खो गई है इसकी पहचान/कायापलट हो रही इसकी/तीर-धनुष-मांदल-नागड़ा-बांसुरी/सब बटोर लिये जा रहे हैं लोक संग्रहालय/समय की मुर्दागाड़ी में लादकर/इसकी बेहतरी के लिए/कुकुरमुत्ते की तरह उगी संस्थाओं में/तथाकथित समाज-सेवक हैं/अफ़सर हैं/चमचे हैं/ठीकेदार हैं/बिचौलिए हैं/वे सबके सब/हाथों में खुली रंगीन बोतलें लिए/बना रहे हैं राउंड टेबुल पर योजनाएँ/बोतलों में नशा है/नशा में तैरती/गदराई देहवाली कई-कई आदिवासी लड़कियाँ हैं/आदिवासी लड़कियों के पास सपने हैं/सपनों में अधूरी इच्छाएँ हैं/भूख है,/भूख में दूर तक पसरी उबड़-खाबड़ धरती/धरती पर काले नंगे पहाड़ हैं/ पहाड़ पर वीरानियां/बस!!!/ और क्या है संथाल परगना में?/उतना भी नहीं बचा रह गया 'वह'/ संथाल परगना में/जितने की उनकी/संस्कृति के किस्से!"[14]

भाषा का प्रश्न भी आदिवासियों की अस्मिता से जुड़ा है। आदिवासियों की शिक्षा उन्हें उनकी भाषा में न देकर, प्रदेश की भाषा में दी जाती है। भाषा-भेद के कारण उच्चारण-भेद होना स्वाभाविक है और इस पर आदिवासी बच्चे के सहपाठी उसे चिढ़ा-चिढ़ाकर उसकी नाक में दम कर देते हैं और वह पढ़ना-लिखना छोड़ देता है। आदिवासियों की अशिक्षा का दूसरा कारण है-स्कूलों में आदिवासी अस्मिता-विरोधी पाठ्यक्रम का होना। देश के हिंदी क्षेत्रों के स्कूलों में या अन्य हिस्सों में पढ़ाया जाता है कि वे दैत्य या दानव हैं। पूरी रामायण इनकी अवमानना की गाथा है तो महाभारत इन्हें ठगने का वृत्तांत। इस प्रकार के पाठ्यक्रम से उन्हें अपमानित किया जाता है। फलतः यह उनके मन में बाकी सबके प्रति संदेह और उनके अपने भीतर हीनताबोध पैदा करता है। इसलिए महादेव टोप्पो 'रचने होंगे ग्रंथ' कविता में अपनी आदिवासी भाइयों को समझाते हुए कहते हैं--"इतिहास तुम्हारा/इतिहास के पन्नों पर/गढ़ा नहीं शब्दों ने/ना ही हो सका है दर्ज ग्रंथों में/तुम्हारी विजय-गाथाओं/ और संघर्षों के गवाह/ पेड़ हैं नदियाँ हैं चट्टानें हैं/पुरखों की रचनाएँ है/ससनदिरी हैं/जाहेर-थान हैं/तुम्हारे लोकगीत हैं/ पर इन सबकी गवाही/उसे नहीं है स्वीकार/इसलिए तुम इतिहास के ग्रंथों में/हाशिए पर डाल दिए गये हो/या कर दिये गये हो उससे बाहर/इससे पहले कि/वे पुनः तुम्हारा अपने ग्रंथों में/बंदर-भालू या/किसी अन्य जानवर/के रूप में करे वर्णन/तुम्हें अपने आदमी होने की/तलाशनी होगी परिभाषा/उनके सिद्धांतों/स्थापनाओं के विरूद्ध/उनके बर्बर वैचारिक/हमलों के विरूद्ध/रचने होंगे/स्वयं ग्रंथ।"[15]

आदिवासियों को अपना अस्तित्व और पहचान बचाये रखने के लिए मजबूरन सत्ता एवं औद्योगिक प्रतिष्ठानों के खिलाफ प्रतिरोध दर्ज करना पड़ता है। जब वे अपने हक की लड़ाई के लिए हिंसक कदम उठाते हैं, तो उन्हें 'नक्सलवादी' या 'अलगाववादी' कहकर मौत के घाट उतार दिया जाता है। दांतेवाड़ा, लालागढ़, गुवाहाटी, उड़ीसा आदि जगहों में घटी हिंसक घटनाएँ इसी मनोवृत्ति की परिचायक हैं। अरूंधती राय 'आउटलुक' के अपने बेहद चर्चित लेख में सरकार द्वारा प्रायोजित 'ऑपरेशन ग्रीन हंट' के सत्य को तल्ख रूप में उजागर करते हुए लिखती हैं--"आज एक बार फिर छत्तीसगढ़, झाड़खंड, उड़ीसा और पश्चिम बंगाल के खनिज सम्पन्न जंगलों में बगावत फैल गई है, जो हिन्दुस्तान के लाखों आदिवासी और जन-जातीय लोगों का बसेरा है और कॉरपोरेट जगत का स्वप्नलोक।"[16] महादेव टोप्पो की कविता 'त्रासदी' इस सवाल को जीवंत ढंग से उठाती है--"इस देश में पैदा होने का/मतलब क्या है/जानते हो मेरे भाई?/नहीं?/इस देश में पैदा होने का/मतलब है-/आदमी का जातियों में बँट जाना/ और गलती से तुम अगर हो गये पैदा/जंगल में/तो तुम कहलाओगे/आदिवासी-वनवासी-गिरिजन/ वगैरह-वगैरह/X X X X/ मगर वे तुम्हें मनुष्य नहीं कहेंगे/सबसे बड़ी त्रासदी तो यह कि/तुम्हें वनवासी आदिवासी गिरिजन/सब कुछ कह लेंगे/लेकिन कहेंगे नहीं/कभी तुम्हें इस देश का वासी/वैसे कहने को तो वे/तुम्हें इस देश का/आरक्षित नागरिक भी कह लेंगे/लेकिन यह कितनी बड़ी विडम्बना है/कितना बड़ा विरोधाभास/कि जब तुम इस देश के/नागरिक होने के नाते/माँगोगे अपना हक/कहलाओगे फिर तुम ही/अलगाववादी!"[17]

आज भारत सरकार और प्रदेश सरकारों को आदिवासियों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण रूख अपनाने की आवश्यकता है। आदिवासी क्षेत्रों के लिए कोई परियोजना बनाने से पूर्व आदिवासियों से सहमति ले लेने में सरकार की संवेदनशीलता ही जाहिर होगी और आदिवासी समाज भी यह महसूस करेगा कि यह सरकार उनकी अपनी सरकार है। हर उद्योग में इन आदिवासियों के लिए रोजगार की समुचित व्यवस्था करने का प्रयास भी होना चाहिए। विस्थापन से पहले आदिवासियों के पुनर्वास की व्यवस्था करना भी आवश्यक है। इसी प्रकार यदि जंगल की रखवाली का दायित्व आदिवासी समाज को सौंप दी जाये, तो जंगलों की अवैध कटाई रूक जायेगी। उन्हें खेती के लिए थोड़ी-सी जमीन दे दें और सिंचाई की व्यवस्था कर दें तो कोई आदिवासी पलायन नहीं करेगा। आदिवासी ज़मीन के किसी भी टुकड़े पर खेती करके खुश हैं। जल-जंगल-जमीन से उसका पुराना नाता है और यह नाता टूटते ही आदिवासी, आदिवासी नहीं रह जाता, यह समझने की अत्यंत आवश्यकता है। यदि हम अब भी नहीं चेते तो आगे क्या-क्या हो सकता है, इसका आभास देते हुए निर्मला पुतुल अपनी 'धीरे-धीरे' शीर्षक

कविता में लिखती है--''धीरे-धीरे साफ़ होंगी चीज़ें/समय के धुंधलके को तोड़ ज़मीन की परतें तोड़कर फूटते अंकुर की तरह/फूटेगा एक दिन हमारा असंतोष/और भड़क उठेंगे आग/आग फैलेगी धीरे-धीरे साफ़ होंगी चीज़ें/समय के धुंधलके को तोड़/ज़मीन की परतें तोड़कर फूटते अंकुर की तरह/फूटेगा एक दिन हमारा असंतोष/और भड़क उठेंगे आग/आग फैलेगी धीरे-धीरे आदमी के जंगल में/और जल उठेंगे ख़ामोश अचल खड़े पेड़/मौन समाधि लिए बैठा बरगद भी/नहीं बचेगा हमारी लपटों से यह जो गलियों में खेल रहे हैं बच्चे हमारी बस्ती के/एक दिन बड़े होंगे/और कुछ-न-कुछ तो निकलेंगे ही ऐसे/जो दौड़ेंगे समय की रफ्तार से भी तेज़/अपने समय की बहती बयार के ख़िलाफ/अक्सर चुप रहने वाला आदमी/कभी-न-कभी बोलेगा जरूर सिर उठाकर/चुप्पी टूटेगी एक दिन धीरे-धीरे उसकी/धीरे-धीरे सख़्त होंगे उसके इरादे/और तनेंगी मुट्ठियाँ आकाश में व्यवस्था के ख़िलाफ/भीतर ईजाद करते कई-कई ख़तरनाक शस्त्र/धीरे-धीरे पुख़्ता होगा हमारा विश्वास/अविश्वास के विरूद्ध मोर्चाबंदी कर/लगातार लड़ते हुए/बटोर पृथ्वी की पूरी ऊर्जा/उठेगा धीरे-धीरे ज़मीन से/ज़मीन पर गिरा आदमी/और अपने लड़खड़ाते क़दमों से नापते दूरियाँ/पहुँच जायेगा वहाँ/जहाँ उस जैसे तमाम आदमियों पर बहस चल रही होगी/धीरे-धीरे खुलेंगे सभी बंद दरवाजे/न थकने वाली हमारी लगातार कोशिश की हद के बाद/धीरे-धीरे उठेगा आख़िरी पर्दा/और दिखेगा एक दिन सब कुछ साफ़-साफ़/नाटक के पीछे चल रहा नाटक/ और उसके पात्रों के असली चेहरे/कुछ भी एकाएक नहीं होता/जन्म लेने से पहले/गर्भ में पहले शिशु की तरह/सबकुछ पल रहा है/समय की कोख में।''[18]

निष्कर्ष

आज आवश्यकता इस बात की है कि आदिवासी समाज और सरकार में संपर्क कायम हो। सरकार आदिवासियों का दर्द समझे और सहानुभूतिपूर्वक उनकी समस्याओं को सुलझाने का प्रयास करे। आदिवासी सामज की उन्नति और सर्वांगीण विकास के लिए आदिवासियों को उनकी अपनी (मातृभाषा) भाषा में शिक्षित करने की आवश्यकता है। वैश्वीकरण और विकास की अंधाधुंध कोशिशों से इन आदिवासियों की पहचान, संस्कृति, परंपरा और सम्मान को कहीं ठेस न पहुंचे, इसलिए उन्हें आत्मनिर्णय और स्वशासन का अधिकार दिया जाना चाहिए।

संदर्भ सूची :

1. थावनी ओम (प्रधान संपादक), शैलेन्द्र (संपादक-कलकत्ता संस्करण), 'जनसत्ता', अगस्त-2009, पृ. 6
2. कालजयी किशन (संपादक), संवेद-48, अंक-1, जनवरी-2012, पृ. 28
3. श्रीवास्तव एकांत, खेमानी कुसुम (संपादक), 'वागर्थ', अंक-185, सितम्बर-2010, आमुख।
4.कुमार कमलेश, 'आदिवासी विमर्श :अवधारणा और आंदोलन', प्रथम संस्करण-2014, तेज प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.24-25
5. गुप्ता रमणिका (संपादक), 'आदिवासी स्वर और नई शताब्दी', प्रथम संस्करण-2002, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 54
6. वही, पृ. 30
7. वही, पृ. 52
8. मीणा हरिराम, 'सुबह के इंतजार में' (काव्य-संग्रह), प्रथम संस्करण-2006, शिल्पायन, नई दिल्ली, पृ.41-42
9. गुप्ता रमणिका (संपादक), 'अरावली उद्घोष पत्रिका', आदिवासी कविता अंक, वर्ष-2004, पृ. 9
10. गुप्ता रमणिका (संपादक), 'आदिवासी स्वर और नई शताब्दी, 'प्रथम संस्करण-2002, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 50
11. पुतुल निर्मला, 'नागड़े की तरह बजते हैं शब्द' (कविता-संग्रह), तीसरा संस्करण-2012, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृ. 14
12. गुप्ता रमणिका (संपादक), 'आदिवासी स्वर और नई शताब्दी', प्रथम संस्करण-2002, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 29
13. वही, पृ. 28
14. पुतुल निर्मला, 'नागड़े की तरह बजते हैं शब्द' (कविता-संग्रह), तीसरा संस्करण-2012, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृ. 26-27
15. गुप्ता रमणिका (संपादक), 'आदिवासी स्वर और नई शताब्दी', प्रथम संस्करण-2002, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 48
16. मेहता विनोद (प्रधान संपादक), 'आउटलुक', अप्रैल-2010, पृ.14
17. गुप्ता रमणिका (संपादक), 'आदिवासी स्वर और नई शताब्दी, 'प्रथम संस्करण-2002, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 49-50
18. पुतुल निर्मला, 'नागड़े की तरह बजते हैं शब्द' (कविता-संग्रह), तीसरा संस्करण-2012, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृ. 84-85